BIHAR SHODH SAMAAGAM, VOL. 2, ISSUE 2, p.p 43-47
(2024) ISSN : -3048-6971 Bilingual Peer Reviewed
Refereed Research Journal

हिन्दी और क्षेत्रीय सिनेमा : संदर्भ भोजपुरी फिल्में

डॉ. मुन्ना कुमार पांडेय

शोध-सार : साठ के शुरुआत में पनपे भोजपुरी सिनेमा मे दो चरणों में बेहतरीन कालखंड देखा पर आज भोजपुरी सिनेमा और उसका संगीत एक ऐसी अवस्था से गुजर रहा है कि उसको अपने पुराने प्रतिक्रियावादी और सामंती मूल्यों को, उनके अंशों को उस रूप में ना दिखाकर उन्हें एक अलग रंग देकर एक खास किस्म के आपराधिक कर्म का प्रतिनिधि रूप बनाया जा रहा है। हिंदी सिनेमा की ही तरह भोजपुरी की भी सबसे बड़ी ताकत उसके गीतों का पक्ष रहा है। कंधे पर पूरे परिवार के भरण-पोषण का जुआ उठाए भोजपुरिये शुरू से ही परदेस में इन्ही ग्राम-गीतों, संस्कार गीतों को अपने श्रमिक जीवन के सुख-दुःख का आलंबन मानता रहा है। अपने अंचल से बाहर यही वर्ग और इस वर्ग में केवल मजदूर ही नहीं हैं, वरन वे सभी हैं, जो अर्थोपार्जन हेतु अपनी जमीनों से दूर आये और फिर वापस लौटने की कसक उनके भीतर शिद्दत से मौजूद रही है। यह भी इस सिनेमा का असल दर्शक ही है, जो अलग-अलग रूपों में दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, बंगाल, उतराखंड, असम, सुदूर खाड़ी देशों और उसने भी दूर अन्य जगहों तक फैला हुआ है। कुछ अच्छा ना मिलने की स्थिति में इन्हें जो परोस दिया जा रहा है, वे उसी को देख-सुन या ग्रहण कर रहे हैं। इसकी वाजिब वजह है, भूख में पहली शर्त पेट भरने की होती है। पेट और भण्डार भरे होने की स्थिति में खाद्य या पेय पदार्थ में विकल्प का स्थान आता है, यहाँ यह स्थिति पैदा ही नहीं कि गयी है। इसलिए अब तक जो परोसा जा रहा है, कुछ न होने की दशा में ग्राह्य बना हुआ है। ये गीत उसके दिन भर के टूट कर काम करने के बाद मानसिक खुराक का काम करते रहे हैं, जो उसे उसकी मिट्टी से जोड़ता है। भोजपुरी सिनेमा का फौरी लक्ष्य यही दर्शक वर्ग रहा है पर इन गीतों ने जिस तरह से अपना विस्तार किया है, वह बताने की आवश्यकता नहीं है।

बीज शब्द : सिनेमा, भोजपुरी डायस्पोरा, चटनी संगीत, इतिहास,भाषा, संस्कृति, बाजार, बॉक्सऑफिस।

भारतीय सिनेमा की जब हम बात करते हैं तो अमूमन एक बड़ी गलती यह करते हैं कि मुंबई में बनने वाली हिन्दी फिल्मों को ही भारतीय सिनेमा का असल पर्याय मान लेते हैं, जबकि यह बड़ी सच्चाई है कि जब भी हम भारतीय सिनेमा का जिक्र करें, तब क्षेत्रीय जबानों में बनने वाले सिनेमा को भी भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधित्व करने वाला अनिवार्यतः मानना होगा। भारत में सिनेमा के इतिहास पर नजर डाले तो हम पाएंगे कि क्षेत्रीय भाषाओं के सिनेमा का सफर कमोबेश हिन्दी सिनेमा के बरक्स ही प्रवाहमान रहा है और इस बात को सिनेमा के इतिहासकार दर्ज भी करते हैं। असल में, क्षेत्रीय भाषाओं का सिनेमा भी उतने ही महत्व का है जितना मुंबईया हिन्दी सिनेमा। वैसे इस सिनेमा को क्षेत्रीय सिनेमा कहने से भी कुछ कलाजीवियों को भी आपत्ति है। अपने एक इंटरव्यू में फिल्मकार सुरेन्द्र मेनन बताते हैं कि "पहली दक्षिण भारतीय फिल्म 'कीचक वध' का निर्माण मूक फिल्मों के निर्माण के दौर में ही हुआ था। इसी तरह तेलुगु फिल्म 'भक्त प्रह्लाद' भी उसी समय बनी। इनके अतिरिक्त बंगाली, मराठी, गुजराती में भी मूक फिल्में बनी। इन सब फिल्मों का निर्माण पहली टॉकी (सवाक्) फिल्म 'आलम-आरा'(1931) से पहले हुआ, जो दर्शाता है कि भारत में फिल्म निर्माण का इतिहास बंबई की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा। यहाँ तक कि असमिया और पंजाबी भाषा में भी उसी दौर में फिल्में बनी। 1936 में मराठी में बनी फिल्म 'संत तुकाराम' पहली भारतीय फिल्म थी, जिसे वेनिस में अवॉर्ड मिला और अंतरराष्ट्रीय ख्याति हासिल हुई।"[i] बंबई अथवा मुंबई शुरू से ही फिल्म निर्माण का केंद्र रहा और भारतीय कहे जाने वाले सिनेमा पर उसकी गहरी छाप भी रही है पर इसका एक अलग असर यह हुआ कि बॉलीवुड कहे जाने वाले मुंबईया सिनेमा को ही भारतीय सिनेमा की वैश्विक पहचान मानने का एक कुचक्र शुरू हुआ और यह भूमंडलीकृत भारत में भी चलता रहा लेकिन बीसवीं शताब्दी के अंत और इक्कीसवीं सदी के शुरू ने क्षेत्रीय सिनेमा की शक्ति को पूरे भारत और वैश्विक स्तर पर स्थापित कर दिया। यही वजह है कि अब मुंबई का हिंदी सिनेमा न केवल इससे खासा प्रभावित है बल्कि उनके रीमेक को मजबूर भी हुआ है। क्षेत्रीय कहे जाने वाले सिनेमा की हालिया उपलब्धि की बात करें तो तेलुगु की एक फिल्म 'आर आर आर' ने प्रतिष्ठित ऑस्कर जीतकर भारतीय सिनेमा को गौरव का क्षण दिया है। इस बहस में आगे बढ़े तो, सुप्रसिद्ध रंगकर्मी और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की पूर्व प्रोफेसर (स्व.) त्रिपुरारी शर्मा अपने एक लेख 'उनका काम फिल्म नहीं पैसा बनाना है' में लिखती हैं "हिन्दी से इतर भाषाओं में जो सिनेमा बनता है, उसे क्षेत्रीय सिनेमा कहना भी मेरे विचार से सही नहीं है। उसको क्षेत्रीय कहने से ऐसा लगता है, जैसे बॉलीवुड सिनेमा राष्ट्रीय सिनेमा है और वही भारतीय सिनेमा है। लेकिन यह गलत है। बांग्ला, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं में बहुत अच्छी फिल्में बनती है और उनमें से कई को राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी मान्यता मिलती है। उनको क्षेत्रीय कहने और बॉलीवुड को राष्ट्रीय मानने से उनका महत्त्व काम हो जाता है, जबकि वे अपनी अंतर्वस्तु में, सरोकारों में, सौन्दर्य-बोध में राष्ट्रीय स्तर की होती है।"[ii] तो असल मायनों में भारतीय सिनेमा की एक मुकम्मल छवि भारत के सभी भाषाओं में बनने वाली फिल्मों से बना है न कि उसको किसी विशेष खांचे में फिट करके उसका अध्ययन करने से।

डॉ. मुन्ना कुमार पांडेय
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

भोजपुरी सिनेमा की शुरुआत : महामहिम की सरपरस्ती

सन् 1950 के आसपास का समय रहा होगा, जब देश के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी की मुलाकात हिन्दी सिनेमा के मशहूर चरित्र अभिनेता नाजिर हुसैन से हुई और उन्होंने नाजिर हुसैन को भोजपुरी में फिल्में बनाने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं दिनों नाजिर हुसैन ने विमल राय के लिए एक कहानी और उसकी स्क्रिप्ट लिख रखी थी, जो राजेन्द्र बाबू से हुई मुलाकात और बतकही के बाद भोजपुरी की पहली फिल्म का आधार बन गया। उनके इस कार्य में बतौर निर्माता शाहाबाद, आरा के रहने वाले और कोयला के बड़े व्यवसायी विश्वनाथ प्रसाद शाहाबादी जुड़े। शाहाबादी के पास धनबाद और गिरीडीह में अपने सिनेमाघर भी थे। बतौर निर्देशक कुंदन कुमार की एंट्री हुई और भोजपुरी की पहली फिल्म 22 फरवरी, 1963 में 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' सामने आई। इसके बाद भोजपुरी सिनेमा की शुरुआत हो गई और यह यात्रा अपने दूसरे चरण यानी अस्सी के दशक में अपने उरुज पर पहुँची, जहाँ भोजपुरी सिनेमा का स्वर्णिम दौर शुरू हुआ। इसी समय 'गंगा किनारे मोरा गाँव, धरती मइया, भैया दूज, पिया के गाँव, दूल्हा गंगा पार के, बलम परदेसिया जैसी फिल्में आईं , जिन्होंने न केवल बॉक्स ऑफिस पर अच्छी कमाई की बल्कि इन्होंने हिन्दी सिनेमा के सामने भोजपुरी सिनेमा का एक बाद दर्शक-वर्ग तैयार किया। इन फिल्मों की लोकप्रियता का आलम यह था कि गाँव-कस्बों के सुदूर इलाकों में बिहार सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय के कर्मचारी जनता की डिमांड पर मूविंग प्रोजेक्टर के साथ इन फिल्मों को जनता को दिखाया भी करते थे।

अस्सी का दशक और बाद का भोजपुरी सिनेमा

अस्सी के दशक के बाद भोजपुरी सिनेमा जगत में एक तरह से ठहराव की स्थिति आती है, यद्यपि इस बीच 'माई', 'दंगल', 'सजनवा बैरी हो गईले हमार' सरीखी फ़िल्में छिटपुट तौर पर बीच-बीच में आईं। फिर नब्बे के शुरुआत में भोजपुरी अलबमों के दौर में कामतानाथ दुबे और मोहन जी प्रसाद जैसे निर्माताओं ने फिर से 'नेहिया लगवनी सईया से' और 'हमार सजना' से भोजपुरी सिनेमा की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की। हालांकि ये दोनों फिल्में न तो कंटेन्ट न ही मेकिंग में बेहतर थी, सो, ये कब आई, कब गई इसका पता नहीं चला लेकिन इसके बाद भोजपुरी सिनेमा का तीसरा दौर फिल्म 'ससुर बड़ा पइसा वाला' से शुरू हुआ। भोजपुरी के ट्रेड विश्लेषकों की माने तो यह फिल्म भोजपुरी की आज तक की सबसे अधिक कमाई करने वाली फिल्म है।

आज भोजपुरी सिनेमा अपने शवाब पर है। सिनेमा ट्रेड के विशेषज्ञों की माने तो आज यह अच्छे-खासे दर्शक वर्ग के साथ लगभग 2000 करोड़ सालाना की इंडस्ट्री भी बन गई है।[iii] एक रिपोर्ट की माने तो अब "भोजपुरी फिल्में और संगीत बिहार के 70% ग्रामीण युवाओं के फैशन और बोलचाल की भाषा को प्रभावित करते हैं। यह उद्योग भारत की जीडीपी में सालाना 2000 करोड़ रुपये से अधिक का योगदान देता है और पाँच लाख अप्रत्यक्ष रोजगार पैदा करता है। ये आँकड़े इस भाषा के गहरे सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव को दर्शाते हैं।"[iv] यह वह समय है, जब माध्यमों का उभार शुरू हुआ था, इसका फायदा निःसंदेह भोजपुरी सिनेमा को हुआ पर यह भी उतनी ही कड़वी सच्चाई है कि यह सिनेमा आगे चलकर एक खास किस्म की भेड़चाल में अपनी स्वाभाविक चाल और राह दोनों से भटक गया। कहा जाता है कि रोम रातों-रात नहीं बसा था, भोजपुरी सिनेमा के रचने-बसने में भी यह बात लागू होती है। वैसे भी किसी समाज, शहर अथवा उद्योग को विकसित होने में एक लंबा समय लगता है। बेतरतीब और बिना प्लानिंग के बने, बसे शहर, समाज, उद्योग जल्दी ही नारकीय स्थिति में आ जाने को अभिशप्त हो जाते हैं। वर्तमान में भोजपुरी अंचल के लिए यह सुखद बात रही है कि, भोजपुरी फिल्मों का बंजर पड़ा संसार लहलहाने लगा। परन्तु, यह भी सच है कि अब तो यू ट्यूब और ओटीटी प्लेटफॉर्म्स के आने के बाद इन फिल्मों से दर्शकों का, खासकर सिनेमाघरों मे जाकर फिल्म देखने वालों में, खासा मोहभंग हो चुका है। यह दर्शक अब अपने जेब में पड़े मोबाइल से ही इन फिल्मों से जुड़ रहे हैं। फिर जिन दर्शकों का जुड़ाव या अलगाव इन फिल्मों से है, उसके कई अन्य कारण भी हैं। दर्शकीय विलगाव का एक बड़ा कारण इन फिल्मों की एकरसता और सांस्कृतिक बेगानापन भी है। भोजपुरी फिल्मों से भोजपुरी का लैंडस्केप ही गायब है। एक समय था, जब यह फिल्में नोटिस में नहीं थीं, पर अब, जबकि इनको पहचान मिल चुकी है और इसका एक व्यापक दर्शक-समुदाय निर्मित हो चुका है, फिर ऐसे में जरुरत इनके रंग-ढंग बदलने की है। वरना इनकी भी नियति उन अन्य क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों की तरह हो जाएगी, जिनकी रौनक हिंदी फिल्मों के फार्मूलों के पद-चिन्हों पर चलकर नष्ट हो गयी। दरअसल, "क्षेत्रीय कहलाने वाली फिल्मों के महत्त्व को इस रूप में भी समझा जाना चाहिए कि उनके निर्माता-निर्देशक अपनी भाषा से, अपनी मिट्टी से, अपनी संस्कृति से बड़ी गहराई से जुड़े होते हैं और अपने स्थानीय संदर्भ में वे जो फिल्म बनाते हैं, उसमें उनकी सामाजिक जिम्मेदारी झलकती है।"[v] दक्षिण, गुजराती, मराठी और बांग्ला का सिनेमा एक हद तक अपने स्थानीय संदर्भों से जुड़े होते हैं इसलिए उनमें उनका तेवर और लैंडस्केप स्पष्ट दिखता है और उसे उसी रूप में बाकी जबानों के दर्शक स्वीकारते हैं। इसका सबसे बाद उदाहरण हालिया रिलीज 'बाहुबली', 'काँतारा', 'आर.आर.आर.', 'के.जी.एफ. ', 'पुष्पा', छेलो शो', 'नटसम्राट', 'सैराट' जैसी फिल्में हैं, जो अपनी जड़ों का बहुत हद तक प्रतिनिधित्व करती हैं जबकि इसके उलट इधर के भोजपुरी सिनेमा के टाइटल्स तक को देखें तो वह हिन्दी के 'बी' ग्रैड के सिनेमा की सस्ती नकल से अधिक कुछ नहीं। न तो इनमें मुकम्मल स्थानीय संदर्भ, न ही अपनी मिट्टी और संस्कृति का सही दर्शन ही होता है फिर एक बड़ा सवाल उनमें अभिव्यक्त अश्लील गीतों और कंटेन्ट का होना भी भोजपुरी अंचल के जेरे-बहस है।

ओटीटी और यूट्यूब के साथ भोजपुरी के गायक-गायिका और अभिनेता-अभिनेत्रियों ने अपनी लोकप्रियता का एक अलग लेवल पाया है। उनकी व्यूअरशिप के सैकड़ों मिलियन की संख्या आश्चर्यजनक है। एक ओर भोजपुरी सिनेमा का एक प्रबुद्ध वर्ग समूह इन फिल्मों में जबरिया ठूसी गई अश्लीलता के खिलाफ लगातार आवाज़ उठा रहा है तो दूसरी ओर इनसे जुड़े लोग इसे अपनी लोकप्रियता के खिलाफ महज कुछ लोगों का प्रपंच बता रहे हैं।

यह सच है कि भले ही आज कुछ चुनिंदा लोग इन फिल्मों के उफान से अपनी पीठ थपथपाकर बाहरी दुनिया को फीलगुड करा रहे हों, पर इन फिल्मों में व्यापक रूप से बढ़ती जा रही समस्या के तरफ उनका ध्यान नहीं है या वह इस ओर ध्यान देना ही नहीं चाहते हैं, क्योंकि उनकी नज़र केवल, जैसे भी बने पैसा बनाने पर है। भोजपुरी फिल्मों की समस्या मेकिंग से ही नहीं, बल्कि इनके प्रस्तुति और कथ्य से भी जुड़ी हुई है। जिस भाषा, बोली और संस्कृति की प्रतिनिधि ये फिल्में है, ये सब उसी से दिन-ब-दिन दूर होती जा रही हैं। यही वह समय है, जब भोजपुरी के साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रबुद्ध-वर्ग को गंभीर होना होगा, जिनके हस्तक्षेप से आने वाले समय में यह सिनेमा एक सार्थक सिनेमा उद्योग के तौर पर स्थापित होगा। मगर यह भी इतना आसान नहीं है। कुछ आवाजें हैं पर वह नक्कारखाने में तूती की आवाज़ से अधिक नहीं और दूसरी ओर इस फिल्म उद्योग में जो लोग पूँजी निवेश कर रहे हैं, वे विशुद्ध रूप से व्यापारी लोग हैं, जिनका पहला और अंतिम लक्ष्य येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना है। इसका प्रभाव इन फिल्मों पर दिख भी रहा है। जिस वर्ग में सांस्कृतिक-मूल्यों का अभाव है, वह किसी भाँति फिल्मों के सांस्कृतिक पक्ष की ओर नहीं देखेगा, ऐसे में संस्कृतिकर्मियों की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है, ताकि आने वाले वर्षों में कम-से-कम भोजपुरी सिनेमा का इतिहास लिखते वक्त कलम घिसने वाले को बगलें झाँकने को मजबूर न होना पड़ जाये अथवा उसकी लेखनी अस्सी की फिल्मों से आगे कहीं ठहर-सी न जाए।

आंचलिक रंग : बदरंग

अपनी बोली और संस्कृति से राग रखने वाले इस फर्क को बखूबी जानते हैं कि,'गंगा मईया तोहे पियरी चढ़ईबो', 'बलम परदेसिया', 'भईया दूज', 'धरती मईया' और नयी फिल्मों 'सब गोलगाल ह', या 'छेदिया सटल रहे निरहुआ डटल रहे' अथवा 'मार देब गोली केहू ना बोली', 'दुल्हनिया ले आईब पाकिस्तान से' जैसी फिल्मों का बुनियादी फर्क क्या है। यह कुछ फिल्मों की बात नहीं है, यह तो मात्र उदाहरण हैं। यद्यपि भोजपुरी सिनेमा के शुरूआती दौर में भी कुछेक लोगों की इसकी भाषा आदि पर कुछ कठोर टिप्पणियाँ भोजपुरी मैग्जीन 'अँजोर' तथा अन्य जगहों पर प्रकाशित हुईं, पर अब लगता है कि आज के दौर की फिल्मों को देखने के बाद तो उन लेखकों को केवल पोस्टर मात्र से ही अपनी लेखनी की स्याही नैराश्य से सूखती नज़र आती। तब से अब तक कई स्तरों पर फर्क आया है और यह फर्क भयावहता की हद तक का है। भोजपुरी की नयी फिल्मों का फर्क उनके ट्रीटमेंट और जमीनी होने को लेकर अधिक है, जिनमें अश्लीलता और फूहड़पन एक बड़ा मुद्दा है। एक समय का दौर परंपरागत टोन और स्वाद का है तो दूसरा दौर अजनबियत से भरा नितांत पराया, जो एक स्थायी मॉस दर्शक बनाने में असमर्थ हो जाती है। कहने का तात्पर्य इनमें से आंचलिक रंग गायब है और जो इसके नाम पर दिखाया जा रहा है, वह इसकी छौंक भर है, वह भी बेमन की। इनकी हालत 'बिना मन के ब्याह कनपटी में सिंदूर' जैसी है। यह सिनेमा आधी शताब्दी का सफर तय कर लेने के बावजूद अभी भी एक स्तरीय सोपान नहीं पहुँच सका है। यह भी एक बड़ा कारण है कि जाति और वर्ग में विभाजित इस अंचल के सिनेमा में दर्शकों का वर्ग भी विभाजित हुआ है। भोजपुरी सिनेमा के दर्शक-वर्ग में औरत दर्शकों की भागीदारी अभी भी शोचनीय अवस्था में है। यह भी भोजपुरी सिनेमा की एक बड़ी कमी कही जाएगी और इस दर्शकीय स्थिति पर भी ध्यान देना जरुरी है और इसके कारणों की तलाश भी कि आखिर जिस सिनेमा में कुछ ही दशकों में ही ऐसी स्थिति क्योंकर आ गयी है। यही नहीं औरतों के अलावे शिक्षित/प्रबुद्ध दर्शकों का साथ भी सिनेमाघरों में भोजपुरी फिल्मों को प्राप्त नहीं है। भोजपुरी सिनेमा की पहली ही फिल्म एक विधवा/बेमेल विवाह, भूमिहीनता, शराबखोरी, सामाजिक भेद और सबसे बढ़कर एक नाचने वाली लड़की के विवाह की कहानी है। जिस सिनेमा में स्त्री न केवल सामाजिक संबंधों बल्कि प्रतीकात्मक रूप से इन फिल्मों का अंग रहीं वह अब किस राह चल पड़ा है। पुरानी भोजपुरी सिनेमा में आपको गाँव और गंगा खूब दिखेंगे और यही फिल्मों की कथा में भी मसलन, गंगा जइसन माई हमार, गंगा जइसन भौजी हमार, दूल्हा गंगा पार के, पिया के गाँव आदि। एक और जरूरी बात जाने योग्य यह है कि इस इलाके के पलायन के बड़े गहरे सूत्र कैरिबियन देशों में भी है तो सुंदर पोपो के चटनी गीत/संगीत 'फुलौरी बिना चटनी कैसे बनी'[vi] का प्रयोग भी पुरानी फिल्मों में रही है और इतनी खूबसूरती से रहा है कि उसका प्रयोग हिन्दी में भी हुआ पर यह विचारणीय प्रश्न है कि यह प्रयोगधर्मिता इधर के फिल्मों से क्योंकर और कैसे गायब हो गई।

असल में, भाषा के साथ इसकी संबद्धता ने इसे असीम लोकप्रियता तो दिलाई है पर भोजपुरी संस्कार (भाषाई और आंचलिक) की कुछ अपरिष्कृत प्रस्तुतियों एवं कुरुचिपूर्ण रुढियों ने भोजपुरी सिनेमा के टेक्स्ट को उपेक्षा एवं वितृष्णा का शिकार भी बनाया है। इतना ही नहीं, यह अपने युगबोध की अभिव्यक्ति एवं शिल्प के नए मानकों के प्रति भी सचेत नहीं है। अपनी जड़ों से हटकर अतिशय प्रयोग आंचलिक सिनेमा के लिए उचित नहीं, यह अपनी ही जड़ों में मट्ठा डालते जाने सरीखा है। जड़ से हट कर या उखड़कर और जन से जुड़ाव के बीच भोजपुरी सिनेमा के स्वास्थ्य के लिए इस सम्बन्ध को आत्ममुग्धता से एवं अहंकार-ग्रस्तता से मुक्त होकर जमीनी सच्चाईयों को देखना होगा। तभी इसका सही व्यक्तित्व निर्धारण भी

होगा। बाज़ार का दबाव है और हमेशा रहेगा, किन्तु खांटी व्यापारिक बुद्धि से ही काम करने से यह समस्या हल नहीं होगी। भोजपुरी फिल्म-निर्माता-वर्ग इस समाज के विशाल उपभोक्ता-समूह के जरिये दो-दूनी चार करने की जल्दी में तो है लेकिन उस समाज के प्रति अपने दायित्व के प्रति ज़रा भी सजग नहीं है। ये सभी व्यावसायिकता के नाम पर अपनी भाषा, संस्कृति तक को दांव पर लगा चुके हैं। भोजपुरी सिनेमा के निर्माता समूह को एक नया तेवर अपनाना ही होगा एवं एक नयी दृष्टि से अपने जड़ों की ओर देखना होगा, तब इन फिल्मों में एक किस्म का गांभीर्य और स्थिरता दिखेगी और तब यह फिल्में एक नयी करवट लेंगी, जिनको लेने की आज जरुरत है, तब इसका फलक अधिक ज़मीनी और वैश्विक होगा। तब कुछ ऐसी फिल्में भी बनेंगी, जो न केवल देश में बल्कि विश्व सिनेमा में भी अपना स्थान सुनिश्चित कर सकेंगी और यह तभी होगा, जब एक समानांतर सिनेमा यया कहें कि मानीखेज फिल्म बनाने सरीखा प्रयोग भी साथ साथ होगा।

जमीनी हकीकत यानी चंदा मामा दूर के

भोजपुर अंचल का दायरा बहुत विस्तृत है और किसी भी क्षेत्रीय भाषा को इतना विस्तार और जनसंख्या प्राप्त नहीं है। बड़े अंचल की समस्याएं भी दस तरह की हैं। माओवाद, सामंतवाद, बाहुबलीराज जैसी समस्याएं इस समाज की आम तस्वीरें हैं पर इन सबसे अलग भोजपुरी की फिल्मों ने इन समस्याओं का रचनात्मक प्रस्तुति देने के बजाये उसका वीभत्स रूप ही पैदा किया। परिणामतः इस बाढ़ में कुछ अच्छी फ़िल्म 'देसवा' और 'नया पता' भी बह चली, जो नोटिस में नहीं ली गयीं। मसलन, निरहुआ की रणभूमि में उग्रवाद की, जाति-भेद की समस्या सामने आई थी पर अफ़सोस अच्छे से नोटिस में नहीं आ पायी। यही हाल 'कब अईबू अंगनवा हमार', या 'हम बाहुबली' सरीखी फिल्मों का भी हुआ पर ये कुछ उदाहरण मात्र हैं, जिन्हें अतिव्यव्सायिक बुद्धि और अदूरदर्शिता ने ही डुबोया और अगर इस ओर ध्यान दिया गया होता तो संभव था कि कुछ अच्छी फिल्म सामने होती या उसकी शुरुआत होती। बीते वर्षों में भोजपुरी सिनेमा ने अपनी नींव पुख्ता की है लेकिन इस नींव को स्थायित्व तभी मिल सकेगा, जब इसमें कुछ सार्थक, अर्थपूर्ण फिल्में का भी निर्माण शुरू हो। फार्मूला फिल्मों से ऐतराज नहीं पर वह भोजपुर अंचल का, भाषा का सिग्नेचर नहीं बन पा रही हैं। भोजपुरी मेकर्स भी इस ओर गंभीर नहीं दिखते पर एक समूह स्वतंत्र फिल्ममेकर्स का भी है जो क्राउड फन्डिंग से कर रहे हैं। इसमें सबसे अर्थवान और चर्चित फिल्म आशीष पी. मिश्र की 'भेंट' और कुछ शॉर्ट फिल्म्स भी हैं। भोजपुरी फिल्मों में अब बहस इस बात कि है कि भोजपुरी भाषाई संस्कृति के फार्मूला फिल्मों के बरक्स एक खास किस्म की फिल्में भी बनें, जो कलात्मक रूप से नोटिस में आये और एक नया दर्शक-वर्ग और मिजाज़ भी बनाने की राह साफ़ करे। ये फार्मूला फिल्मों के अलावा अपनी माटी के ज़मीनी समस्याओं, हकीकत को इंगित करती हुई कुछ ऐसी फिल्में हों, जो इस भाषिक अंचल की गुंडा, दबंगई, हवा-हवाई जैसी स्टीरियो टाईप इमेज से अलग हो। ठीक वैसे ही जैसाकि, अपने कम प्रभाव क्षेत्र के बावजूद बांग्ला, उड़िया, मलयाली, मराठी आदि फिल्मों ने बनायी है। भोजपुरी सिनेमा जाने-अनजाने अपने लोक से कटता जा रहा है। इस वजह से इसका वह दर्शक जो अस्सी के दशक में सपरिवार इन फिल्मों को देखने जाता था, वह आज इनके पोस्टर्स तक को देखना पसंद नहीं करता। भोजपुरी सिनेमा में भोजपुरी समाज की समस्याओं का चित्रण नहीं हो रहा है। भाषा को छोड़कर सब कुछ बाह्य-प्रतिरोपित किया गया है, अगर इनका चित्रण होता भी है तो व्यावसायिक नज़रिए से। जैसे, पर्व के नाम पर होली या छठ का चित्रण...होली के चित्रण से अश्लीलता दिखाने की छूट मिल जाती है। पलायन, दहेज, भ्रूण, हत्या, बेरोज़गारी इत्यादि भोजपुरी समाज की मुख्य समस्याएं हैं, जिनको लेकर अच्छी फिल्में बनायीं जा सकती हैं पर इन सब पर किसका ध्यान है? ध्यान है, सिर्फ अपराध पर, जिनमें अपराध और अपराधी को ग्लैमराईज किया जाता है। यह चिंता वाजिब है क्योंकि यह चिंता भोजपुरी फिल्मों के उस बड़े समुदाय की भी है, जिसने इस ओर देखना/सोचना भी छोड़ दिया है। चाहे आप इसकी जितनी व्याख्याएं कर लें, पर इस सच्चाई को नहीं बदला जा सकता है कि यह सिनेमा बड़ी तेज़ी से फैलाव तो ले रहा है, परन्तु इसे अपने से दूर होते जा रहे दर्शकों के असंतोष के मूल सामाजिक-मानसिक-परिवेशजनित चरित्र को भी समझना होगा। 90 से अब तक के भोजपुरी सिनेमा पर नज़र डाली जाये तो लगेगा कि भोजपुरी सिनेमा एक ऐसी अवस्था से गुजर रहा है कि उसको अपने पुराने प्रतिक्रियावादी और सामंती मूल्यों को, उनके अंशों को उस रूप में ना दिखाकर उन्हें एक अलग रंग देकर एक खास किस्म के आपराधिक कर्म का प्रतिनिधि रूप बनाया जा रहा है। हिंदी सिनेमा की ही तरह भोजपुरी की भी सबसे बड़ी ताकत उसके गीतों का पक्ष रहा है। कंधे पर पूरे परिवार के भरण-पोषण का जुआ उठाए भोजपुरिये शुरू से ही परदेस में इन्ही ग्राम-गीतों, संस्कार गीतों को अपने श्रमिक जीवन के सुख-दुःख का आलंबन मानता रहा है। अपने अंचल से बाहर यही वर्ग और इस वर्ग में केवल मजदूर ही नहीं हैं, वरन वे सभी हैं, जो अर्थोपार्जन हेतु अपनी जमीनों से दूर आये और फिर वापस लौटने की कसक उनके भीतर शिद्दत से मौजूद रही है। यह भी इस सिनेमा का असल दर्शक ही है, जो अलग-अलग रूपों में दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, बंगाल, उतराखंड, असम, सुदूर खाड़ी देशों और उसने भी दूर अन्य जगहों तक फैला हुआ है। कुछ अच्छा ना मिलने की स्थिति में इन्हें जो परोस दिया जा रहा है, वे उसी को देख-सुन या ग्रहण कर रहे हैं। इसकी वाजिब वजह है, भूख में पहली शर्त पेट भरने की होती है। पेट और भण्डार भरे होने की स्थिति में खाद्य या पेय पदार्थ में विकल्प का स्थान आता है, यहाँ यह स्थिति पैदा ही नहीं कि गयी है। इसलिए अब तक जो परोसा जा रहा है, कुछ न होने की दशा में ग्राह्य बना हुआ है। ये गीत उसके दिन भर के टूट कर काम करने के बाद मानसिक खुराक

का काम करते रहे हैं, जो उसे उसकी मिट्टी से जोड़ता है। भोजपुरी सिनेमा का फौरी लक्ष्य यही दर्शक वर्ग रहा है पर इन गीतों ने जिस तरह से अपना विस्तार किया है, वह बताने की आवश्यकता नहीं है। अगर भूले से किसी ने इन गीतों के अश्लीलता के बारे में पूछ दिया तो जवाब मिलेगा कि यही मार्केट की डिमांड है पर यह मार्केट बनाया किसने? नब्बे के शुरूआती दौर में शारदा सिन्हा, भरत शर्मा, बालेश्वर आदि से परे एकाएक 'शिव विवाह','शिव कलेवा'(तपेश्वर चौहान और बिजेंद्र गिरी) जैसे अलबम आते हैं और चुटीले तथा द्विअर्थी शब्दों वाले संवाद और गीतों से पूरे भोजपुर में छा जाते हैं, जैसे ही दूसरों ने भोजपुर समाज की इस हवा को सूंघा वैसे ही रही सही कसर गुड्डू रंगीला और राधेश्याम रसिया, छोटू छलिया, कलुआ जैसों ने पूरी कर दी। भोजपुरी के भाषिक संस्कारों में गिरावट का दौर यही से शुरू होता है, जो जल्दी ही इन फिल्मों का हिस्सा भी बन गया और यह गिरावट निरंतर जारी ही है। वैसे भी भोजपुरी ठिठोली के उपयुक्त भाषा है पर बाज़ार नापने वाले यह जानते थे कि ठिठोली और अश्लीलता में बहुत बारिक फर्क है। बस तार को थोड़ा और खींचने की जरुरत है ।

निर्माता-वर्ग की मंशा और प्रबुद्धजनों की चुप्पी

तकरीबन एक ही ढर्रे की फिल्मों की बाढ़ के बीच इसका निर्माता वर्ग शायद यह भूल गया है कि बाढ़ की एक विशेषता या यूँ कहें असर होता है कि जब बाढ़ का पानी आता है तो अपने साथ ढेर सारा अवशिष्ट पदार्थ भी लेकर आता है। यह सभी अवांछित पदार्थ उतरते पानी के साथ वापस नहीं जाते बल्कि इधर-उधर के गड्ढों, नालों और चौरों में अटक जाते हैं और बाद में,सड़ांध तथा बीमारी पैदा करते हैं। इन फिल्मों की बाढ़ के बीच इस बात पर भी गंभीरता से सोचने की जरुरत है कि रुपये प्रति सैकड़े की आमद के बीच भोजपुरी फिल्में कब तक अपने मोहपाश से दर्शकों को बाँधे रख सकेंगी? कब तक दर्शकों को यह छलावा देती रहेंगी कि हाँ! यही है इन फिल्मों का वह स्वर्णिम दौर। आश्चर्य है! भोजपुरी का प्रबुद्ध वर्ग भी इस ओर से आँखें मूंदे बैठा है। यह अत्यधिक खतरनाक स्थिति है। एक सुखद और बेहतरीन भविष्य के लिए जो चीज़ सबसे जरुरी है, वह चुप्पी नहीं बल्कि आपसी संवाद है। यह संवादशून्यता की स्थिति तोड़नी होगी। बातचीत के प्रक्रिया को बढ़ावा देना और शुरू करना एक बेहतरीन कदम साबित होगा। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि भोजपुरी फिल्मों की यह बाढ़ अपने पीछे ऐसा अवशिष्ट छोड़ जाए, जिसे हम याद न रखना चाहें या बेहतर यह हो कि अब यह फिल्म जगत भी 'स्पर्श' 'कांजीवरम', 'जापानीज वाईफ', 'सैराट' सरीखी क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों से कुछ सीखे, प्रेरणा ले और कुछ यादगार तथा सच्चे अर्थों में बेहतरीन फिल्में बनाए। कायदे से अपनी अस्मिता को पहचानने और इसका एक अपना मुहावरा खोजने की बेचैनी भीतर होनी जरुरी है। यह अधिक मुश्किल नहीं है। जरुरत भोजपुरी के समाज और संस्कृति के प्रति थोड़ा ईमानदार होने की। साथ ही, इस ओर भोजपुरी के अब तक सुस्त पड़े कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों, साहित्यिकों, राजनेताओं को जागने की जरुरत है। बेशक सब न सही, कम-से-कम कुछेक चिराग तो रोशन हो अन्यथा भोजपुरिया फिल्मों का यह गढा जा रहा 'अ-भोजपुरिया'सौंदर्यशास्त्र नासूर बन टीस ही देता रहेगा। आने वाले वर्षों में शायद यह हो कि ग्राम के विश्वग्राम बनते जाने की प्रक्रिया में और माध्यमों के शोर-शराबे के बीच कोई ऐसी चकित कर देने वाली प्रतिभा या फिल्म इसी भीड़ में से उभरकर सामने आएगी, जो इस भाषा के 'सिने-जगत' को नए फल-फूल देगी। शायद ऐसा हो और इसी की प्रतीक्षा भी है, यहाँ भी और सात समुन्दर पार बसे उन लाखों गिरमिटियों को भी। तब तक इसके रफ़्तार को ही देखने की अभिशप्तता के साथ ही चलना होगा, काश यह नियति ना बनने पाए। कुछ उम्मीद 'देसवा', 'भेंट'और 'नया पता' सरीखी फिल्मों से बनी तो है पर इन्हें प्रश्रय और प्रोत्साहन की अधिक जरुरत है। अन्यथा यह किसी से छुपा नहीं कि भोजपुरी का सिनेमा चाहे लाख अपने डायस्पोरा प्रसार की बात कहे पर सच तो यह है कि इस क्षेत्रीय सिनेमा कहा जाता है उसके बड़े हिस्से का सस्ता बॉलीवुडीकरण हो चुका है, जिसके केंद्र में केवल बाजार और मुनाफे का खेल है इसकी कीमत चाहे किसी प्रांत की संस्कृति और समाज ही चुकाए।

संदर्भ सूची :

[i] देखें, सुरेन्द्र मेनन से संज्ञा उपाध्याय की बातचीत 'भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा', संपादक- रमेश उपाध्याय और संज्ञा उपाध्याय, शब्द संधान नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012, पृष्ठ- 15.

[ii] देखें, वही, पृष्ठ- 26.

[iii] See - 'Bhojpuri films have earned considerable revenue and viewership currently, It is said to be rs. 2000 cr. Industry', Indian Cinema and young viewer's responses to Gender and Violence against Women, Report written by – Lopa Ghosh, Oxfem India, Canada, page-10.

[iv] See – 'Bhojpuri films and music influences the fashion and slang of 70 percent of rural youth in Bihar.
The industry contributes over two thousand crore rupees annually to India's GDP and supports five lakh indirect jobs. these figures quantify the language's profound cultural and economic impact', htttp://worldmetrics.org/nhojpuri-industry-statistics/

v लेख-'उनका काम फिल्म नहीं पैसा बनाना है'- त्रिपुरारी शर्मा, 'भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा', संपादक- रमेश उपाध्याय और संज्ञा उपाध्याय, शब्द संधान नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012, पृष्ठ-26

[vi] See-Journal of world literature 9 (2024)- Francesca Orsini, ORCID : 0000-0003-3608X, SOAS, University of London, UK, Published online on 27th Nov. 2024.